संगीत के कुछ प्रचलित प्रश्न

अशोक दामोदर रानडे

(मूल प्रसिद्धी - मुक्त संगीत संवाद, संपा. श्रीरंग संगोराम, १० जनवरी, १९९५)

डॉ. अशोक रानडे से बातचीत

प्रश्न - हिंदुस्थानी सुबद्ध संगीत में अभिजातवाद (classicism) और भाववाद (romanticism) के नाम से एक संकल्पना प्रस्तुत की गई है। उसके संबंध में आपका सोचना क्या है?

रानडे - सुबद्ध संगीत क्लासिकल या कलासंगीत का पर्यायवाची है, संभवत: यह आपके प्रश्न में अनुस्यूत है। लेकिन मुझे नहीं लगता कि भाववाद और अभिजातवाद को दो अलग वृत्तियाँ माना जाए। मुझे ऐसा लगता है कि प्रत्येक कला और उसके प्रदर्शन में जो दृष्टिकोण अपनाए जाते हैं उनमें पहले अधिकतर उस कलावस्तु की आकृति को और दुसरा उसके मानसिक पक्ष को वरीयता दी जाती है। ये दो दृष्टिकोण सभी कलात्मक अभिव्यक्तियों में दिखाई देते हैं। किसी भी कलात्मक अभिव्यक्ति में उसका एक पक्ष उसके घटक अंगों की संरचना पर निर्भर करता है और दूसरे पक्ष में इस संरचना को फलित करते समय आपकी मनोवृत्ति कैसी है, इसपर ध्यान दिया जाता है। ये दो दृष्टिकोण हमेशा रहेंगे ही। इसलिए मुझे लगता है कि ये दोनों वाद या दोनों संकल्पनाएँ अथवा दृष्टिकोण सुयोग्य मानवी दृष्टिकोण हैं। और वे प्रत्येक कालखंड में नए सिरे से नहीं, बल्कि बराबर महसुस होते हैं।

प्रश्न - लेकिन गायन किसी भी दृष्टि से किया गया हो, उसमें हर समय किसी मनोवृत्ति का रहना अटल है। फिर उसके भीतर दो 'वॉटरटाइट कंपार्टमेंट' हम कैसे बना सकेंगे?

रानडे - वाद कोई भी हों, वे एकदम 'वाटर टाइट' नहीं रहते। यदि आपने एक पारंपरिक बात में नए विचारों को प्रस्तुत कर दिया तो जो कुछ बनता है वह और उच्च कोटि का होता है। इसलिए अनुभूति के बाद इस स्तर पर ये 'भाववाद' वगैरह सब अप्रासंगिक बन जाते हैं। क्योंकि वहाँ एक ही निकष रहता है, गुणवत्ता। हम प्राय: उसकी निचली सतह पर घूमा करते हैं, इसलिए हमें लगता है कि ये जो वाद हैं, उनसे हमारा छत्तीस का आकड़ा है। फिर हम यह देखने में लग जाते हैं कि इन दोनों वादों में पहला ग्राह्य, महत्त्वपूर्ण हो सकता है या दूसरा।

प्रश्न - वर्तमान स्थिति में ख्यालगायन ही हिंदुस्तानी संगीत का सबसे प्रधान अंग है। यद्यपि इस ख्यालगायन शैली में समय के साथ परिवर्तन होते आए हैं तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि ख्याल के कुछ सौंदर्यतत्त्वों के बारे में अतिवादी प्रवृत्ति को आस्पद नहीं मिलना चाहिए। उदाहरण के लिए, 'सरगम'का अतिरेक, अतिरिक्त भावविवशता (sentimentality), 'बंदिश' नामक घटक की अवहेलना करते हुए केवल स्थायी के मुखड़े पर ही पूरे ख्याल को खड़ा कर देना और राग-विस्तार को बंदिश के अंग से प्रस्तुत न करते हुए आधार के लिए चंद शब्द लेकर राग का मन:पूत विस्तार करना वगैरह। यह तो ठीक है कि इन सबके लिए सुनिश्चित नियम नहीं रहने चाहिए। परंतु यह भी स्वीकार्य नहीं लगता कि आकृतिवाद को एकदम से उखाड़ दिया जाए। आज के श्रोता को संगीत श्रवण के सिलसिले में संभ्रमावस्था का सामना करना पड़ रहा है। इसके संबंध में आपका मंतव्य क्या है?

रानडे - बारीकी से देखा जाए तो ये सभी को सौंदर्यतत्त्व नहीं कहला सकते। याने सरगम का प्रयोग या भावविवशता अथवा शब्दों को महत्त्व देना न देना ये अन्यान्य घटक हैं। सौंदर्य-तत्त्व उसके बहुत आगे का पड़ाव है। परंतु हम मान लेते है कि इस प्रश्न द्वारा आपको

असल में यह पूछना है कि, "सरगम की अती करना वगैरह जैसी अतियों से ख्याल का 'बंधान' ठीक से नहीं हो पाता या ख्याल अपने सही रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाता और चूँकि ख्याल गायन, जो कि आज की प्रमुख विधा है, उसके बारे में ऐसा होना नहीं चाहिए"। यदि आपका यह रुख हो तो आपसे मैं सहमत हो सकता हूँ। एक बात तो यह कि ऐसा दिखाई नहीं देता कि 'बंदिश' के महत्त्व को लोग ठीक से समझ पाए हैं। बड़े बड़े गायक भी इससे बच नहीं पाए है। जैसे बंदिश में ताल का महत्त्व क्या है ? जाने-माने गायकों को भी इसका कुछ आकलन हुआ है, ऐसा नहीं लगता। वैसे यह कहना भी उतना ठीक नहीं है। क्योंकि इन बातों का महत्त्व उन्हें मंजूर रहता है, किंतु उनके स्वयं के रियाज में या प्रस्तुति में ये बातें प्रतिबिंबित हुई नहीं दिखाई देतीं। और मेरी समझ में इसके लिए एक तरह की आदत ज़िम्मेदार है। यदि किसी व्यक्ति के पैर में दोष हो तो वह अपनी चाल इस ढंग से बनाता है कि जिससे वह दोष छिपा रहे; और इसमें कोई बुराई नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य हर प्रश्न के लिए कोई उत्तर खोजता रहता है और यह उत्तर वह अपनी लियाकत या मर्यादा के आधार पर ही खोजता है। इसलिए उसने इस संबंध में अपने लिए कोई अलग उत्तर प्राप्त किया हो तो हम उसे दोष नहीं दे सकते। ऐसी प्रवृत्ति के कारण जो हानि होती है उसे हर सीखनेवाले साधक को परख लेना चाहिए और वर्तमान गवैयों को दोष देने की अपेक्षा यह सोचना चाहिए कि मुझे क्या करना होगा। वह यह विचार करे कि मुझे फलानि बातें सचमुच में प्रतीत होती हैं तो इस दिशा में मुझे क्या कदम उठाने चाहिए। स्वामी विवेकानंद का इस अर्थ का कथन है कि जिसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसपर उसे कार्यान्वित करने का दायित्व आ जाता है। इस विचार को ध्यान में रखकर व्यवहार करना हम ठान लें तो अन्य गायक क्या करते हैं इसकी ओर ध्यान देने की अपेक्षा हमें क्या ठीक लगता है और हमें क्या करना है, इसको पक्का करके हम आगे बढ़ सकते हैं। ऐसा रवैया अपनाने पर "मेरा गुरु ऐसा न करता हो तो भी मुझे वैसा करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती," इस प्रकार का विचार होने लगेगा। मुझे लगता है कि आज ऐसा विचार नहीं हो रहा है।

प्रश्न - पिछले कुछ वर्षों में ध्रुपद गायन की साधना करने की ओर कुछ युवा स्त्री-पुरुष संगीत-साधकों का झुकाव दिखाई दे रहा है। ख्याल ने अपने रूप को परिवर्तनोन्मुख रखा है, इससे उसकी लोकप्रियता साबित है। किंतु देखा जाता है कि इस तुलना में ध्रुपद बिलकुल परिवर्तनोत्सुक नहीं है। ध्रुपद गायन की प्रचलित महफिली प्रस्तुति के संबंध में आपकी क्या राय है?

रानडे - सच तो यह है आजकल महफ़िलो में से ख्याल को भी धीरे धीरे खारिज होना पड़ रहा है। क्योंकि आजकल जिस तरीके से ख्याल गाया जाता है उसमें ठुमरी का आभास अधिक होता है। और ऐसा होगा ही। ऐसी विधाएँ बराबर अपना 'जामा' बदलती रहती हैं। और वैसा उन्हें बदलने की मुहल्लत है। हाँ, लेकिन ध्रुपद के संबंध में कुछ ऐसा हुआ है कि अरसे तक वह स्वयं ही बताता रहा कि मेरे (याने ध्रुपद के) स्वरूप में यह ऐसा-ऐसा रहता है, उसमें फलानि बातों के लिए निषेध है और फलानि बातों का होना अनिवार्य-अटल है। नतीजा यह हुआ है कि ध्रुपद शैली में जो कुछ आकर्षक, कुछ प्रवाहशील भाग होगा वह कम से कम आज तो हमारे सामने नहीं आ रहा है। अब लोग पुनश्च ध्रुपद की ओर मुड़ रहे हैं। इसमें संभवत: 'फैशन' का तकाजा भी हो सकता है। मनुष्यों के व्यवहार में ऐसा देखा जाता है। जो रूढ़ नहीं उसकी ओर जाना भी अपने में एक प्रवाह ही है। वह भी जिंदादिली का एक लक्षण है। प्रचलित प्रवाह में शामिल न होकर उलटी दिशावाले प्रवाह की ओर जाने की चाह रखना भी प्राकृतिक है। समाज उसे जरूर अपनाए। आपने कुछ भी सीखा और कुछ भी गाया तो भी जो कुछ आपने प्राप्त किया, उसे लोगों तक संप्रेषित करने में आप सफल होते हैं या नहीं, यह सवाल महत्त्वपूर्ण है। यदि वह ठीक प्रकार से हो जाए तो लोग कुछ भी सुनने को तैयार रहते हैं। दरअसल यदि कोई १ से १०० तक की गिनती बेहद प्रवाही ढंग से और प्रभावपूर्णता के साथ कह दे तो लोग किसी ख्यालगायन की तरह ही उसका स्वागत करेंगे। आखिर महत्त्व इस बात का है कि लोगों को आप किस ओर खींच के ले जा सकते हैं।

प्रश्न - संगीत के घरानों के भविष्य के संबंध में आपके क्या विचार हैं? क्योंकि युवा संगीत-साधकों को घरानेदार संगीत की शिक्षा मिलने की स्थिति आज नहीं रही है। कुछ विचारकों को लगता है कि घरानों की सीमाओं के टूट जाने से शैलियों का संकर होकर किसी आकृतिविहीन संगीतरूप के निर्माण की संभावना है।

रानडे - घराने तो रहेंगे ही। हाँ, शायद अपने प्रचलित नामों से नहीं रहेंगे। यह संभव है की उनकी मार्ग रेखाएं (alignments) भिन्न होंगी। फिर भी घराने रहेंगे। क्योंकि घराने का मतलब ही एक 'अत्यंत सुसंबद्ध दृष्टिकोण' है। ऐसे सुसंबद्ध दृष्टिकोण रहेंगे ही और वे एकाधिक संख्या में भी निर्मित होंगे। आपका यह कहना ठीक नहीं है की युवा गायको को घरानेदार गायकी की तालीम मिलेगी ही नहीं। घरानेदार गायकी की शिक्षा लेने के लिए जो कष्ट उठाना आवश्यक है, उसके लिए युवा गायक तैयार नहीं है। इसलिए जिन गायकों का नाम है, उन्हीं के पास वे जाते हैं। आज के युवा वर्ग में मुझे यह बड़ा दोष नजर आता है। क्योंकि बहुत अच्छी तरह प्रस्तुति करनेवाले गायक और बहुत अच्छी तरह तालीम दे सकनेवाले गुरु या शिक्षक के बीच फर्क करने का विवेक उनके पास नहीं। प्राय: यही देखा जाता है कि जो अच्छा गा सकता है, सिखाने में उसकी रुचि नहीं रहती और सिखाने की कला में भी वह माहिर नहीं होता। पुराने गवैये एक सिद्धांत बताया करते हैं कि "उत्तम गाना, मध्यम बजाना, निखद नाचना"। यहाँ तक लोगों को मालूम रहता है किंतु इसमें आगे एक और बात भी जुड़ी हुई है और वह है "बिकट बताना"। मतलब यह कि इन तीनों कलाओं की तालीम देना बहुत कठिन है। 'लेना' आसान होता है, 'देना' सबसे कठिन। इसलिए 'देने' वाले लोग संख्या में बहुत कम हैं। युवा गायक यहीं पर भ्रमित होते दिखाई देते हैं। संगीत सीखने के बारे में वे स्वयं कोई निर्णय (decision) नहीं कर पा रहे हैं। वे उसे टाल रहे हैं। उन्हें लोकप्रियता का और तुरंत नाम हो जाने का लालच रहता है। "मैं फलाने गवैये का शिष्य हूँ और उनके शिष्यों की बड़ी नामावली में मेरा भी नाम है" ऐसी भावना में एक तरह से सुरक्षा (security) रहती है और उसमें एक सामूहिक प्रवृत्ति (group mentality) रहती है। ये साधक उस सुरक्षा की भावना के पीछे दौड़ते हैं। मेरी राय में पहले की अपेक्षा आज का युवा गायक कम विचक्षण है। मुझे लगता है कि गुरु के बारे में खुद निर्णय करने का साहस उसमें नहीं है, इसीलिए इस प्रकार के घपले होते हैं।

घरानों की सीमाएँ टूट जाने से शैलियों का संकर होने की बात से मैं सहमत नहीं हूँ। सीमाएँ टूटती ही रहती हैं और संकर होता ही रहता है।

प्रश्न - घरानों का वर्गीकरण, स्वरप्रधान, लयप्रधान इत्यादि कसौटियों या तर्कों पर करने की एक पद्धति है। इसके संबंध में आपकी भी कुछ राय है। किंतु क्या आपको लगता नहीं कि घरानों का मूल्यांकन कलात्मक ऊँचाई या स्तर के आधार पर होना चाहिए? यदि ऐसा न किया जाए तो संगीत के कलात्मक मूल्यों को वरीयता कैसे प्राप्त होगी? इस संदर्भ में एक और मुद्दा यह है कि आज अलग अलग घरानों की महफिलों से जो रूप सामने आते हैं, उनमें अनेक प्रकारों से बदलाव आए हुए दिखाई देते हैं। सवाल यह है कि क्या आनेवाले युग में सभी सौंदर्यतत्त्वों की हिफाजत करनेवाली 'समग्र गायकी' के निर्माण की संभावना है?

रानडे - सच कहें तो कलात्मक स्तर के कम या ज्यादा होने के आधार पर मूल्यांकन नाम की कोई बात नहीं होती। जब आप स्वरप्रधान, लयप्रधान जैसे निकष लगाते हैं तब उसके पीछे तर-तम-विचार ही रहता है। आप जो कलात्मक ऊँचाई की बात कर रहे हैं वह आपका एक आदर्श (ideal) है। इसी के लिए तो इन आदर्शों का व्यूह रहता है। अब इस प्रश्न में सौंदर्यमीमांसा किस तरह स्थान ग्रहण कर सकती है, इसके बारे में कुछ उलझनभरी स्थिति जरूर है। मूलत: निकषों की जरूरत क्यों महसूस होती है? निकषों के समुच्चय (sets) रहते हैं। वे इसलिए रहते हैं कि आप गुणवत्ता को लेकर कुछ तर-तम-भाव रख सकें। अत: इन समुच्चयों का कार्य

वही है। यदि आप इन निकषों के समुच्चय से कोई निर्णय नहीं कर पा रहे हैं तो समझना पड़ेगा कि वे निकष ही त्रुटियुक्त हैं। आपको उन्हें बदलना होगा, अन्यथा यह विश्लेषण अकारथ है।

यहाँ यह सोचें कि ये सारे तत्त्व कौन-से हैं ? उनकी गिनती करना संभव नहीं। अपने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों का वर्गीकरण करते समय छ: प्रकार के अलंकारों का नाम लेते लेते हम हजारों अलंकारों के वर्गीकरण पर आ जाते हैं। विश्लेषण के लिए कोई अंत नहीं रहता और वह ठीक भी है। विश्लेषण की वह प्रकृति ही है। भेदोपभेद करते चलना ही उसका कार्य है। 'केशाग्रवत्' भेद भी उसमें आ जाते हैं। अत: तमाम सौंदर्यतत्त्वों के निर्वाह की बात में एक भोला-भाला आदर्शवाद है। सभी के सभी आदर्श तत्त्वों के समावेश को 'रामराज्य' कहकर उसकी प्रतीक्षा करनेवालों के समान यह बात है। 'रामराज्य' वगैरह बातें बोलनेभर के लिए होती हैं। यदि ऐसा कभी हो भी जाए तो वह सब हमें सत्त्वहीन लगने लगेगा। क्योंकि जहाँ कहीं सौंदर्यतत्त्व आ जाए , वहाँ सभी बातें सुहावनी (pleasant) हो ऐसा जरुरी तो नही है। लोग प्राय: अतिशयोक्ति वाली बातें करते हैं। जैसा कि, प्रत्येक कलाकार अति उत्तेजनाप्रवण (neurotic) या पागलनुमा होता है। प्रत्येक कलाकृति में कुछ-न-कुछ बीभत्सता रहती है। इसी बात को यों भी कहा गया है कि प्रत्येक अच्छी कृति या वस्तु में कुछ न कुछ कलातत्त्व रहता है। बर्नार्ड शॉ जैसा चिंतनशील साहित्यकार कहता है कि आप 'हेवन' (स्वर्ग) में रह ही नहीं पाएँगे क्योंकि वहाँ सब कुछ इतना स्वादहीन (insipid) रहता है कि अच्छे लोग तो नरक में रहना ही पसंद करेंगे। प्रत्येक कलाकृति में कहीं न कहीं कोई मीनमेख तो रहती ही है, इसीलिए तो वह वस्तु 'कलाकृति' कहलाती है, अन्यथा उसमें सजीवता नहीं रहेगी। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि संगीत के अंदर 'समग्र' वगैरह जैसी कोई चीज न निकले। और यह भी कहना चाहता हूँ कि यदि कहीं आपका अनुमान सही साबित हो जाए तो संगीत के आनंद में खोट आ जाएगी।

प्रश्न - आवाज-साधनाविषयक पश्चिमी संकल्पना को शास्त्रीय संगीत में किस परिधी तक चरितार्थ किया जा सकेगा?

रानडे - पश्चिमी संकल्पना याने कौन-सी? पहली बात यह है कि प्रो. बी. आर. देवधर ने जिस पद्धति को यहाँ प्रस्तुत किया है वह पाश्चात्य नहीं है। दूसरी बात यह कि देवधर जी की प्रस्तुत की हुई पद्धति में मैंने अपनी ओर से कुछ वृद्धि की है। मैंने आवाज साधना की जिस पद्धति को अपनाया है उसका उद्गम भारत में ही हुआ है। और, चूँकि वह भारत की ही है, वह यहाँ चरितार्थ होगी ही। यह पद्धति पुस्तकों से निकालकर लागू नहीं की गई है। भारतीय जीवन व्यवहार के अनुसार ही इन संकल्पनाओ को विद्यमान किया गया है। आवाज का स्वरूप क्या होता है, प्रत्येक संस्कृति किस प्रकार की आवाज को मधुर मानती है, वह किस आवाज को कार्यक्षम मानती है, किस आवाज को संगीत के लिए उपयुक्त मानती है इसी पर आधारित पद्धति को मैंने बिठाया है। इसके सिवा प्रत्येक संस्कृति में मुनष्य की शरीररचना कैसी होती है, उसका तंत्र किस प्रकार चलता है, इत्यादि सभी बातों को ध्यान में रखकर ही इस पद्धति का गठन किया गया है। आदमी जो कपड़े पहनता है उन कपड़ों में उसके देह का और कुल मिलाकर समाज शरीर की संरचना का विचार रहता ही है। आवाज-साधना की भी यही बात है। अत: इसमें पाश्चात्य वगैरह कुछ नहीं।

प्रश्न - कृपया आवाज-साधना में योगासन और निर्व्यसनता का महत्त्व स्पष्ट करें। देखा जाता है कि आज भी अनेक पुराने ही नहीं, तो नयी पीढी के गायकों को ईमान से ऐसा लगता है कि पान, तमाखू और अन्य द्रव्यसेवन से आवाज खुली बनती है।

रानडे - ऐसी धारणाओं या 'गिमिक्स' से कुछ बुरा हो ऐसा तो नही लगता। किंतु इसके पीछे कोई तर्क भी नहीं है। आपके सवाल में ही यह बात ध्वनित हो रही है कि आवाज के खुला होने से आदतों का कोई संबंध नहीं है। जब आप आवाज सुधारने के लिए श्वसन के व्यायाम बताते हैं तब आप योगासनों का उपाय बता रहे होते हैं। हाँ, एक बात है कि सभी योगासन आवाज-सुधार के लिए उपयोगी नहीं हैं। हम उन्हीं आसनों की सिफारिश करेंगे जो उपयोगी हैं। हमारे यहाँ एक रोचक बात यह है कि जो योगासन या योगशास्त्र की

शिक्षा पाते हैं उन्हें उसका गठबंधन आवाज के साथ करने का ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि योगासन करनेवालों का उद्देश्य ही भिन्न रहता है। समूचे योगशास्त्र में 'अनाहत नाद' को प्रधान माना गया है। गायक-वादकों के लिए उसका महत्त्व नहीं। उन्हें तो 'आहत नाद' का गायन करने से ही सरोकार है। इसलिए योग का नाम उच्चारते ही जो चित्र आँखों के सामने उपस्थित होता है वह उतना प्रांजल नहीं है। याने वह पूरा का पूरा चरितार्थ नहीं होता। इसलिए जो लागू होता है उसीकी हिदायत दी जाती है।

पान-तमाखू को भी इतना घटिया मानने की जरूरत नहीं है। आखिर पान-तमाखू को महत्त्व क्यों मिला? इसीलिए कि उसमें कुछ उपयोगी बात अवश्य होगी। पान-तमाखू के सेवन में लार छूटती है, जो गवैयों के लिए एक अनुकूल परिणाम लगता है। लार भी छूटती है, और कुछ उत्तेजना या 'किक' भी मिलती है। कुछ लोग किसी किस्म कि 'किक' प्राप्त करने के चक्कर में रहते हैं। कोई राजकीय विचारों 'किक' पाना चाहता है तो कोई समाजसुधार को तरजीह देकर उसको उठाता है। हाँ, यहाँ मैं कुछ सस्ते ढंग से इस शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूँ। लेकिन मेरा उद्देश्य यह है कि साधना में लगे हुए लोग उसमें सफलता पाने के लिए हाथ-पाँव मारते ही रहते हैं और ऐसा करते हुए ऐसे उपायों को अपना कर देखते हैं। ये सभी उपाय समान रूप से कारगर नहीं रहते। लेकिन किसी बात को पूरी तरह गलत मानकर भी हाथ कुछ नहीं लगता। फिर उसे त्यागकर उसकी जगह और किस चीज को रखें, यह सवाल उठता ही है। अन्यथा यदि कोई व्यक्ति झटके से पान-तमाखू छोड़ बैठे तो उससे भी बात नहीं बनेगी। क्योंकि उस हालत में वह विमनस्क (dejected) रहने लगे तो और परेशानी हो सकती है। इसलिए इन चीजों की ओर देखने की उसकी वृत्ति में सुधार लाना जरूरी है। यह दूसरी बात है कि 'मुझे लार छूटने की जरूरत है इसलिए मैंने पान चबाया'। किंतु यदि मुझे लार के लिए उसकी आवश्यकता न पड़े तो मुझे औरों की देखादेखी में पान नहीं खाना चाहिए। यदि यह दृष्टि विकसित हो जाए तो लाभ ही लाभ है।

प्रश्न - आजकल संगीत की महफिलों में ग़ज़ल गायन की माँग बढ़ रही है। महफिल में ग़ज़ल को प्रस्तुत करते समय शास्त्रीय संगीत का उपयोग कितनी मात्रा में करना ठीक होगा? उदाहरण के लिए, सरगम का प्रयोग करना, आलापी करना, तानें लेना, लयकारी का प्रदर्शन करना इत्यादि तत्त्वों का अवलंब आजकल किया जाता है। इसके बारे में आपका दृष्टिकोण क्या है?

रानडे - कोई भी संगीत प्रकार बराबर अपने रूपों को बदलता रहता है। उसके मुताबिक ग़ज़ल ने भी अपना रूप बदल दिया है। इसलिए उसके बारे में उचित अनुचित का विचार न करना ही अच्छा होगा। क्योंकि ग़ज़ल अब नया आकार धारण करना चाह रहा है। यह नया आकार टिकनेवाला है या नहीं, ठीक है या है नहीं, इसका निर्णय इस मोड पर नहीं किया जा सकता। क्योंकि परिवर्तन की यह क्रिया अब भी जारी है। ऐसा नहीं लगता कि हम उसका आरेख बना सकेंगे। हाँ, हम इतना जान सकते हैं कि ये लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं। सच तो यह है कि ग़ज़ल के बारे में लोग साहित्य के दायरे से ही सब कुछ लिखते रहे हैं। उसके सांगीतिक पक्ष का विश्लेषण करनेवाले कोई दिखाई नहीं देता। लेकिन ध्यान से देखें तो यह पाया जाएगा कि अमीर खुसरो के जमाने में ग़ज़ल सही रूप से गाया जाता होगा। अमीर खुसरो ने जो सुधार किए उसमें पहला यह था कि उन्होंने ग़ज़ल को 'गीत' बनाया। उसके पश्चात् ग़ज़ल मुशायरों में जाकर दाखिल हुआ। फलत: उसका महज पठन होने लगा। किंतु जब पुनश्च गायक उसकी ओर मुडे तब उस पठन की अवस्था की खुमारी का अनुप्रभाव (hang over) उनपर से हटा नहीं। इसलिए ताल और छंद के साथ चिपककर चलते ढंग की तर्जे लगाकर वे ग़ज़ल गाते रहे। इससे ग़ज़ल उस खास ढंग में फँसकर रह गया। आगे चलकर ग़ज़ल की गायन-शैली में आजादी या छूट (freedom) पाने के लिए 'क्लासिकल' गानेवाले गायक उसमें आलापी करने लगे। यह रहा उसका आगे का अवस्थान (phase)। उसके उपरांत आज उसमें पार्श्वसंगीत (background music), बीच में बजनेवाली स्वरावली (music pieces) इत्यादि का इस्तेमाल करके लोग उसका 'गीत' बना रहे हैं । और उसकी यह आगे की अवस्था आज हमारे सामने है। फिर भी इतने अवस्थाओं के बाद भी ग़ज़ल और और आगे बढ़नेवाला है, ऐसा मुझे लगता है।

प्रश्न - सौंदर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के निकष संगीत-कला पर पूरी तरह चरितार्थ नहीं होते। इस दृष्टि से शब्दनिरपेक्ष और शब्दप्रधान संगीत के सौंदर्यात्मक विश्लेषण में अंतर आना स्वाभाविक ही है। सवाल यह है कि क्या ख्याल गायन के सौंदर्य-निकष अलग माने जाएँ? इसके सिवा कुछ श्रेष्ठ संगीत कलाकारों का मत है कि भरतप्रणीत रसप्रक्रिया के सभी निकष (भाव-विभाव, अनुभाव और संचारियों का संयोग वगैरह) पूरी तरह संगीत के लिए लागू होते हैं। कृपया इसपर आप भाष्य करें।

रानडे - इस विषय के संबंध में जगह - जगह पर विवेचन हुए है। इसके बारे में ब्योरेवार बात करनी होगी। संगीतकला पर पूर्ण रूप से लागू होनेवाले निकष संगीत के ही रहेंगे। इसलिए यदि सौंदर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र, दोनों ज्ञानशाखाओं ने प्रायोगिक कलाओं (performing arts) का विचार किया हो तो यह दोष उनका भी है और हमारा भी। यदि आप अयोग्य शास्त्र से अपेक्षा करने लगे कि उसके माध्यम से संगीत के संबंध में कुछ विवेचन हो जाए तो यह संभव नहीं है। क्योंकि उन शास्त्रों की परिधि में वह विषय आता नहीं। इसलिए सौंदर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र में आपको संगीत के लिए उपयोगी तत्त्व बहुत कम मिलेंगे। इसीलिए तो संगीत के सौंदर्यशास्त्र का समानान्तर विचारव्यूह बनाना पड़ा। संगीतविषयक प्रश्नों की चर्चा इस नई विचारप्रणाली के आधार पर होनी चाहिए। यदि मात्र संगीत को मद्देनजर रखकर बनाई गई सौंदर्यात्मक विचारप्रणाली सभी प्रश्नों के उत्तर में पूरी न पड़ती हो तो संगीत के चिंतक और कलाकार अपने ढंग से उसकी पूर्ति करें। संगीत को पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र का मुखापेक्षी होने की जरूरत ही क्या है? किसी एक बात को दूसरी किसी बात पर लागू करने का मतलब होता है, यहाँ बाहर से कुछ लाकर थोपा गया है।

प्रश्न - क्या काव्यशास्त्रप्रणीत रसों की तुलना संगीत के रसों से हो सकेगी?

रानडे - हम किसी की भी तुलना किसी के भी साथ कर सकते हैं। यदि एक ही तरीके से इस तुलना की रचना की जाए तो आपका प्रश्न युक्तिसंगत होगा। लगता तो ऐसा है कि प्रायोगिक कलाओं का अपना एक गुट है। उसमें संगीत, नृत्य और नाट्य का अंतर्भाव होता है; इसलिए प्रायोगिक कलाओं के जो सर्वसामान्य प्रश्न होंगे उनमें इन तीनों कलाओं पर लागू होनेवाले प्रश्नों का समावेश होगा। इससे जो प्रश्न संगीत के लिए लागू होंगे वे नाट्य के लिए नहीं होंगे और नृत्य के लिए लागू होनेवाले प्रश्न संगीत के लिए नहीं होंगे। इस प्रकार इन प्रश्नों का वितरण होगा। अत: रसप्रक्रिया को जिस प्रकार नाट्य के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है वैसा संगीत को लेकर करने की आवश्यकता नहीं। तो संगीत के व्यवहार में जो कुछ हो रहा है उसे देखते हुए यदि आपको लगे कि वह संकल्पना बहुत सार्थक है तो आप इसका अनुप्रयोग (application) संगीत के लिए कर सकते हैं। और मेरी राय में 'भरत' का समूचा विचार और संकल्पना महत्त्वपूर्ण ही है। उसमें प्रायोगिक कलाओं के विषय में बहुत गहराई से विचार किया गया है। किंतु केवल इसी एक तत्त्व से चिपककर हम सोचते रहे। इसलिए अब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया उठी है कि रसप्रक्रिया संगीत के लिए चरितार्थ नहीं हो सकती। यह प्रतिक्रिया सर्वथा स्वाभाविक है। अब हमें पुनश्च यह देखना होगा कि काव्यशास्त्र के 'ध्वनि-सिद्धांत' ने क्या कहा है, उसमें से हमारे लिए क्या क्या उपयुक्त है इत्यादि।

प्रश्न - "नई पीढ़ी के आदर्श संगीत साधक का व्यक्तित्व ज्ञान की दृष्टि से अंतर्विद्याशाखीय (interdisciplinary) रहना चाहिए, संगीत के साथ ही अन्य समानांतर ललित कलाओं के आस्वाद की योग्यता उसमें विकसित होनी चाहिए तथा उसकी साहित्यविषयक अभिरुचि और पठन भी ठीक रहना चाहिए"। - यदि ऐसा पूर्वपक्ष लेकर विचार किया जाए तो क्या इन अन्यान्य घटकों के कारण युवा साधक की गहन संगीत-साधना में ध्यान विचलित हो जाने का अंदेशा हो सकता है? प्राय: देखा जाता है कि बहुतांश संगीत-साधक अन्य अंचलों से ज्ञान प्राप्त करके अपना व्यक्तित्व सुसंपन्न बनाने के लिए उत्सुक नहीं रहते।

रानडे - आदर्श कलाकार का व्यक्तित्व आप जैसा मानते हैं, वैसा होना चाहिए, इसमें संदेह नहीं। और हमारी संगीतशिक्षा की जो पुरानी परंपरा थी उसमें अंतर्विद्याशाखीय (interdisciplinary) दृष्टिकोण का अंगभूत लाभ भी अनुस्यूत था। उस लाभ की झलक आजकल दिखाई नहीं देती। उस काल की व्यवस्था में ऐसा था कि जो बातें प्रत्यक्ष गायन-वादन के लिए महत्त्वपूर्ण रहती थीं उन्हीं के साथ इस आनुषंगिक ज्ञान का ताल्लुक रहता था। उदाहरण के लिए, वाद्यों की सुरक्षा किस तरह की जाए इसकी शिक्षा उसमें रहती थी। वाद्यों की मरम्मत से लेकर इसमें उसका प्रशिक्षण होता था। लेकिन अब वैसा नहीं पाया जाता। इसलिए अब हेतुपूर्वक प्रयत्न किए बिना अन्य बातों के अध्ययन का या छानबीन का लाभ उठाने की दृष्टि उनमें विकसित नहीं हो सकेगी। अब इस प्रकार के अनुशीलन से मुख्य कलासाधना में बाधा पैदा होने की जो बात आप उठा रहे हैं, उसके बारे में मुझे लगता है कि हरेक व्यक्ति की समझ में यह आ सकता है कि मेरे प्रत्यक्ष साधनाविषय में इन अन्य विद्याशाखाओं में से क्या-क्या उपयुक्त हो सकता है। जिस प्रकार हमारा शरीर जरूरी चीजों को बाहर से ग्रहण करता है या जैसे पेड़ों में केवल जरूरी घटकों को अपने अंदर लेने की शक्ति अंतर्निहित रहती है वैसे ही प्रत्येक जीवित व्यक्ति (living organism) भी यह सतर्कता रखता है कि मेरे लिए क्या-क्या उपयोगी होगा और ठीक उसी का वह ग्रहण करता है। हाँ, किंतु उस व्यक्ति का सच्चा (honest) होना जरूरी है। मैंने अभी आजकल के साधकों के बारे में कहा कि वह अपना फैसला खुद नहीं कर सकते, फैशन के पीछे पडे हुए है; तो इस हालत के परिणामस्वरूप साहित्य, संगीत, चित्र, शिल्प सभी में मेरी गति है ऐसा दिखाने की ललक कुछ कच्चे साधकों में पैदा हो जाती है। कहने का मतलब यह कि अन्यान्य कलाओं के संस्कार प्राप्त करना ठीक है, अत्यंत उचित है। और जिसका आकलन नहीं हो सकता उसका भी संस्कार हो सकता है। चित्रकला का कोई खास ज्ञान न होने पर भी चित्रों की प्रदर्शनी आदि में जाकर देखना भी साधना (training) का एक अंग है। ऐसा जरूर किया जाए। किंतु ऐसा कुछ देख लेने के बाद तुरंत उसपर भाष्य करने पर उतारू होने या 'मुझे उसका ज्ञान है', ऐसा दिखाने का जो रवैया अपनाया जाता है उससे दुष्परिणाम पैदा होते है। अत: संस्कार तो लिए जाने चाहिए किंतु उसके ज्ञान का प्रदर्शन करने के मोह से बचना चाहिए। ऐसा दृष्टिकोण अपनाने पर ही साधक सुयोग्य रूप में संस्कार ग्रहण कर सकेगा और इससे उसका बड़ा लाभ होगा।

प्रश्न - संगीत की साधना करनेवाले नवयुगीन युवा-युवतियों को महाविद्यालयीन शिक्षा, योगक्षेम के लिए नौकरी इत्यादि जिम्मेदारियों का निर्वाह करते हुए अपना शौक पूरा करना पड़ता है। क्या आपको लगता है कि इस परिस्थिति का भावी युग के संगीत के स्तर पर असर होगा? मुद्दा यह है कि आज संगीत-शिक्षा की पद्धति में खुलापन, सटीकपन (exactness) इत्यादि अनकूल बातों को स्थान मिलने लगा है। प्रसार माध्यमों का भी योगदान मिल रहा है। तो संगीत के लिए संपूर्ण समय समर्पित करनेवाले संगीत-साधकों के पैदा होने की संभावना कहाँ तक है? संगीत की इस समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि को लेकर आपकी प्रतिक्रिया क्या है?

रानडे - कुछ बातें मुश्किल हैं, कुछ सरल। सबसे पहले, कभी संभव न होनेवाली बात यह है कि आज हम शिक्षा के अंतर्गत माध्यमों का भरपूर उपयोग कर पा रहे हैं। फिर भी दुविधा यह है कि माध्यमों का उपयोग कैसे करना है इस विषय में हम अज्ञानी हैं। हम माध्यमों के सामने केवल बैठते हैं, उसमें से जो निकलता है उसे सिर्फ देखते रहते हैं, उसमें से ग्रहण कुछ भी नहीं करते। इसलिए हालत यह हो गई है कि इन माध्यमों को हम प्रयोग में नहीं ला रहे हैं, बल्कि ये माध्यम ही हमको प्रयोग में ला रहे हैं! मुझे बताइए कि स्वयं को पसंद न आनेवाले कार्यक्रम भी लोग टी. वी. के सामने बैठकर देखते हैं; वह किसलिए? इसे बंद कर दीजिए। जो स्वतः को पसंद है वह कीजिए। किंतु ऐसे निकष कोई नहीं लगाता। फलत: हम प्रवाहपतित हो गए हैं। कोई भी कृति 'स्वयं' करना आवश्यक है। इस 'स्वयं-सिद्धता' को हम खो बैठे हैं। आज महाविद्यालयीन शिक्षा, व्यवसाय-नौकरी वगैरह के जरिए योगक्षेम की व्यवस्था आदि जो बाते हैं उनके स्थान पर पहले जमाने में गुरु के घरपर काम करना, अपने घर के कामों में दखल देना इत्यादि का बंधन शिष्यों पर रहता था। आज जितनी 'स्कॉलरशिप' मिलती हैं उतनी पहले कभी नहीं मिलती थे। आज तो 'फेलोशिप' भी मिलती हैं तथा अध्ययन की और सुविधाएँ भी

प्राप्त होती हैं। ऐसी स्थिति पहले नहीं थी। इसलिए हमें लगता है कि अब बहुत अनुकूल परिस्थिति आ गई है। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि उसके साथ दायित्व भी तो बढ़ गया है। खुद निर्णय लेकर उसपर अमल करना आज महत्त्वपूर्ण बन गया है।

प्रश्न - संगीत-समीक्षा हिंदुस्थानी संगीत व्यवहार का अद्यावधि एक उपेक्षित अंग रहा है। समाचारपत्रीय समीक्षा तो अवहेलना का विषय बन गया है। कम-से-कम आज की स्थिति में तो संगीत-समीक्षा के नाम पर केवल समाचारपत्रीय लेखन ही कलाकारों और कद्रदानों के सामने उपस्थित है। इस दृष्टि से समाचारपत्रीय संगीत-समीक्षा के बारे में आपके विचार क्या हैं?

रानडे - यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मैंने यह अनेक बार कहा है कि परीक्षण, आलोचना, सौंदर्यमीमांसा और कलामीमांसा तथा दार्शनिक विवेचन इत्यादि अनेक स्तरों पर हम प्रत्येक सांगीतिक प्रस्तुति को देख सकते हैं। और इनमें से प्रत्येक स्तर के तहत प्रस्तुतियों की परख करने के लिए अलग प्रकार की क्षमता प्राप्त करनी पड़ती है। जब तक ऐसा विशेष अधिकार रखनेवाले व्यक्ति नहीं मिले तब तक इन सभी स्तरों पर अच्छा विचार और अच्छा लेखन हो ही नहीं सकेगा। दुर्योगवश यह बात सत्य है कि आज जो व्यक्ति संगीत-प्रस्तुतियों का परीक्षण करते हैं उनके पास परीक्षण के लिए जो ज्ञान आवश्यक है उतना भी नहीं रहता है। यह तो सब माँग और पूर्ति का मामला बन गया है। इससे जो सामने है उसी को शीघ्र महत्त्व प्राप्त होने लगता है। समाचारपत्र के संचालकों के पास यह विवेक नहीं है कि वे जिस प्रकार से राजनैतिक मामलों में जागरूक रहते हैं और सोचते हैं कि हमें फलाने ढंग के लेख की जरूरत है, याने वैसा आग्रह रखते हैं, उस प्रकार का उनका आग्रह कलाओं के विषय में नही दिखता। क्योंकि संपादकों को उस विषय का ज्ञान नहीं रहता। और ज्ञान न होते हुए भी वे यही मानते है कि उन्हें इन सभी विषयो का ज्ञान है। इससे ज्यादा दुविधा सामने आ जाती है।

दूसरी एक भ्रांति यह है कि संपादक यह रवैया अपनाते हैं कि फलाने व्यक्ति ने इतना इतना लिखा है याने उसके पास संगीत की उपाधि का इतना सारा 'पेपर क्वालिफिकेशन' है तो उसे समीक्षक बनाने में कोई आपत्ति नहीं है। अब यदि आप संगीत की डिग्री के समकक्ष लेखनवाली बातें रखते हैं तो संपादक स्वाभाविक रूप से यह कहेगा - "ठीक है आप हमारे यहाँ लिख सकते हैं"। यहाँ पर संपादक ने आप पर जो विश्वास व्यक्त किया है वह उसकी व्यावसायिक नीति का एक अच्छा पक्ष है। किंतु आपकी जिम्मेदारी यह है कि आप यह प्रमाणित कर दिखाएँ कि इस विश्वास के लिए आप पात्र हैं। लेकिन ऐसा नहीं होता। समीक्षक का पद मिलने पर लेखक अपनी जिम्मेदारी को मानो भूल जाता है। वह अपने निरंतर अनुशीलन का सिलसिला जारी नहीं रखता, न ही उसकी गहराई में पहुँचने की कोशिश करता है। इसलिए जिस मायने में संपादक को दोष दिया जाता है उसी मायने में लेखक भी दोषी होता है। याने आप जिस कला के बारे में बात कर रहे हैं क्या उसका ज्ञान आपके पास है ? क्या वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए आप प्रयत्नशील हैं? ऐसी लगन कम देखने मिलती है, इसीलिए हम सबको यह विचार करना पड़ता है। प्रायोगिक कलाओं के संबंध में तो हालत बहुत खराब है, इसे मानना ही पड़ेगा। अब संगीत में सुशिक्षित व्यक्तियों की बहुतायत है। इसीलिए इन व्यक्तियों का यह दायित्व है कि वे अधिक सोच समझकर इन विषयों की ओर देखें।

प्रश्न - क्या समीक्षक को वास्तव में कलाकार होना ही चाहिए?

रानडे - मेरा अपना एक विचार या आग्रह है जिसको मैं गत २५ वर्षों से व्यक्त करता आ रहा हूँ और जो स्वयं मुझे जँचता है कि जब कोई व्यक्ति प्रायोगिक कलाओं के अध्ययन में लग जाता है, तब उसे जो बातें महसूस और ज्ञात होती हैं, वैसी प्रायोगिक कलाओं का साक्षी बननेवाले की समझ में नहीं आ सकतीं। प्रायोगिक कलाओं के स्वरूप की बदौलत ही ऐसा होता है। जैसे - कुश्ती लड़ना। कुश्ती के खेल को आप कितना भी देखिए, आपको उसका कुछ भी आकलन नहीं हो पाएगा। क्योंकि उस कला की खासियत ही वैसी है। जो मनोदैहिक (psychophysical) कृतियाँ रहती हैं, उनमें जब तक मन और देह दोनों को स्थान नहीं मिलता तब तक उसका मर्म

समझ नही आता । साहित्य के संबंध में लेखन करनेवाले का माध्यम के साथ कुछ नाता जुडा हुआ होता है । लेकिन जो व्यक्ति बिलकुल नहीं गाता या बजाता, जिसने हारमोनियम को कभी हाथ तक नहीं लगाया, उसकी यह समझ में ही नहीं आएगा कि राग का वक्रत्व क्या होता है और सीधापन क्या होता है । तो ऐंद्रिय संवेदनाओं का जो भाग है वह मनोदैहिक स्वरूप का होता है । दूसरा कोई अनुभव ऐंद्रिय संबोध का स्थान नहीं ले सकता । इसलिए आपको उसे प्राप्त करना ही होगा । फिर आप भले ही गायक के रूप में असफल रहे हों, गायक के नाते आप मद्धिम हों किंतु समीक्षक के नाते उत्तम बन सकते हैं । लेकिन आपको उस माहौल से गुजरकर जाना ही होगा । किंतु लोग वैसा नहीं करते । फलत: जो समीक्षा होती है वह मात्र किताबी ढंग की बन जाती है । केवल 'हम शब्दप्रभु हैं' इस एक ही अर्हता (qualification) के बल पर ढेर सारी कलम-घिसाई होती है, इसका बड़ा खेद है ।

प्रश्न - संगीत-समीक्षा के संबंध में या कुल मिलाकर कला-समीक्षा के बारे में आपके अपने कुछ स्पष्ट अभिप्राय हैं, जो आपके भाषणों में से अभिव्यक्त होते रहे हैं । प्रस्तुत संदर्भ में यह पूछना है कि समाचार पत्रों के अलावा संगीत-समीक्षा का किन किन दिशाओं में अग्रसर होना समीचीन होगा और यह कार्य संगीत-साधना करनेवाले लोगों के द्वारा होना कहाँ तक संभव है?

रानडे - इसमें जो अन्यान्य प्रतिमान या स्तर हैं उनमें परीक्षण भी एक है । इसके अंतर्गत कोई विशेष प्रयोग प्रस्तुत हुआ है तो उस प्रयोग के दायरे में ही उसका परीक्षण होता है । जब आप किसी विशिष्ट कला की आकृति के आधार पर इस प्रयोग का निरीक्षण करते हैं तब वह 'कला-समीक्षा' बन जाती है । उसके आगे जब आप अधिक व्यापक स्वरूप के सौंदर्यतत्त्वों के निकषों पर विचार करने लगते हैं तब वह 'समीक्षा' कहलाती है । इसके आगे जाने के बाद जब और अमूर्त तत्त्वों के अवबोध को आप प्रश्रय देने लगते हैं तब आप दर्शन के स्तर पर तथा सघन सौंदर्यशास्त्रीय स्तर पर आ जाते हैं । तो इन चारों स्तरों पर काम करना जरूरी है । इसके लिए आवश्यक अनुशीलनप्रवृत्ति और योग्यता (equipment) जिसके पास होगी उससे यह अपेक्षा रखी जा सकती है कि वह इस दिशा में जरूर कुछ कार्य करे । प्रायोगिक कलाओं का प्रशिक्षण प्राप्त करनेवालों के लिए यह संभव हो सकता है । शार्ङ्गदेव और भरत स्वयं अच्छे कलाकार थे इसीलिए वे अच्छे सिद्धांतकार (theoretician) बन सके । अत: यह कलाकारों के लिए बेशक संभवनीय है । हाँ, लेकिन इसमें 'काँटे' भी कम नहीं हैं । उन्हें सँभाल लेने या बर्दाश्त करने की हिम्मत उनमें होनी चाहिए । और वह हिम्मत अपने अंदर ही रहती है । हम स्वयं को शूर बनाएँ, यह बड़ी मुश्किल बात है । दूसरे लोग हमें शूर बना सकते हैं । लेकिन निजी करतूत से शूर बन जाना बड़ा कठिन ब्यौहार होता है ।